आगम-पाठ संशोधन : एक समस्या, एक समाधान

□ मुनि श्री दुलहराज
युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के शिष्य

जैन आगमों का इतिहास पचीस सौ वर्ष पुराना है। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी से पूर्व तक आगमों का व्यवस्थित लेखन नहीं हो पाया था, प्रवचन के माध्यम से गुरु अपने शिष्य को और शिष्य अपने शिष्य को आगम-वाचना देते और इस प्रकार आगमों का अस्खलित रूप से हस्तान्तरण होता रहता। वीरनिर्वाण की दसवीं शताब्दी के अन्त में महामेधावी आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने एक संगीति बुलाई और उसमें आगम-पाठों का संकलन, व्यवस्थीकरण और सम्पादन किया। यह आगम-वाचना अन्तिम और निर्णायक मानी गई।

इस वाचना के विषय में हमें यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि हजार वर्षों से मौखिक परम्परा के रूप में चली आ रही भगवान महावीर की वाणी के अनेक स्थल पूर्ण विस्मृत हो गए, अनेक स्थल अर्द्ध विस्मृत से हुए और बहुत भाग स्मृति-परम्परा से अक्षुण्ण रहा। दूरदर्शी आचार्य देवर्द्धिगणी ने अपने समय के सभी विशिष्ट आचार्यों, उपाध्यायों और मुनियों को एक मंच पर एकत्रित कर उनके कण्ठस्थ ज्ञान को एक बार लिपिबद्ध कर डाला। सब संकलित हो जाने पर स्वयं आचार्य ने या उस समय के निर्दिष्ट मुनि-मण्डल (Board) ने उस संकलित आगम-पाठ का संपादन किया। संपादन काल में पाठों में काट-छाँट हुई तथा उनको व्यवस्थित करने का उपक्रम हुआ। साथ-साथ आचार्य-मण्डल ने गत दस शताब्दियों की प्रमुख घटनाओं को भी आगमों में यत्र-तत्र जोड़कर उनको प्रामाणिक रूप दे डाला।

यह पन्द्रह सौ वर्ष पुरानी बात है। इस उपक्रम से आगमों का रूप सदा के लिए निश्चित हो गया। तत्पश्चात् किसी आचार्य ने पाठों में हेर-फेर तो नहीं किया, किन्तु विस्तार का संक्षेप अवश्य किया है। वर्तमान में उपलब्ध आदर्श इसके प्रमाण हैं।

देवर्द्धिगणी की आगम-वाचना के बाद आगमों की प्रतियाँ लिखी जाने लगीं। प्रतिलिपिकरण को पुण्य-कार्य माना गया और तब अनेक व्यक्ति इस कार्य में जुट गये। एक-एक धनी व्यक्ति ने हजारों-हजारों प्रतियाँ तैयार करवाईं। लिपीकरण की यह प्रक्रिया तीव्रगति से तब तक चलती रही जब तक कि मुद्रण-यन्त्रों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ।

इसका फलित यह हुआ कि लगभग एक शताब्दी पूर्व तक लिपीकरण की प्रक्रिया चलती रही। लिपीकरण के चौदह सौ वर्षों के इस दीर्घकाल में आगम-पाठों में बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। इसके मुख्य कारण ये हैं—

(१) प्रतिलिपि करने वालों के सामने जो प्रति रही उसी के अनुसार प्रति तैयार करना।

(२) लिखते-लिखते प्रमादवश या लिपि को पूरा न समझ सकने के कारण अक्षरों का व्यत्यय हो जाना, वर्ण-विपर्यय हो जाना।

(३) दृष्टिदोष के कारण पद्य या गद्य के अंशों का छूट जाना या स्थानान्तरित हो जाना।

(४) लिपि करते समय पाठ के पौर्वापर्य का विमर्श न कर पाना।

(५) लिखते समय संक्षेपीकरण की स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण 'जाव' या 'एवं' आदि शब्दों से अनेक पद्यों या गद्यांशों को संगृहीत कर लेना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) व्याख्या-काल में आगम-पाठों के व्याख्यांशों को प्रति के आस-पास लिख रखना और कालांतर में उन व्याख्यांशों का स्वयं पाठ के रूप में प्रविष्ट हो जाना।

पाठ-भेद होने के ये कुछेक मुख्य कारण हैं। इनके अतिरिक्त अनेक अन्यान्य कारण भी हो सकते हैं। इन पाठ-भेदों के कारण कालान्तर में व्याख्याओं में भी अन्तर होता रहा और कहीं-कहीं इतना बड़ा अन्तर हो गया कि पाठक उसको देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है।

आज जितने हस्तलिखित आदर्श प्राप्त होते हैं, उतने ही पाठ-भेद मिलते हैं। कोई भी एक आदर्श ऐसा नहीं मिलता, जिसके सारे पाठ दूसरे आदर्श से समान रूप से मिलते हों और यह सही है कि जहाँ हाथ से लिखा जाए वहाँ एकरूपता हो नहीं सकती क्योंकि लिपि-दोष या भाषा की अजानकारी के कारण त्रुटियाँ हो जाती हैं। प्राचीन आदर्शों में प्रयुक्त लिपि में 'थ' 'ध' और 'य' में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस कारण से 'य' के स्थान पर 'ध' या 'थ' और 'द्य' के स्थान पर 'ध' या 'य' हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है। इस सम्भाव्यता ने अनेक महत्त्वपूर्ण पाठों को बदल दिया और आज उनके सही रूपों के जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। उदाहरण के लिए 'थाम' शब्द 'धाम' या 'याम' बन गया। इन तीनों शब्दों के तीन अर्थ होते हैं, जो एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार अनेक अक्षरों के विषय में भ्रान्तियाँ हुई हैं। 'च' और 'व' के व्यत्यय से अनेक पाठ-भेद हुए हैं।

आगम पाठों का संक्षेपीकरण दो कारणों से हुआ है—

१. स्वयं रचनाकार द्वारा २. लिपिकर्ता द्वारा।

संक्षेपीकरण विशेषतः गद्य भाग में अधिक हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं पद्य भाग में भी हुआ है। संक्षेप करते समय रचनाकार या लिपिकार के अपने-अपने संकेत रहे होंगे, किन्तु कालान्तर में वे विस्मृत हो गये और तब वह संक्षेप मात्र रह गया, उसके आगे पीछे का सारा अंश छूट गया।

(क) रचनाकार द्वारा कृत संक्षेपीकरण—दशवैकालिक सूत्र के आठवें अध्ययन का छब्बीसवाँ श्लोक इस प्रकार है—

कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए॥

यहाँ पाँच श्लोकों का एक श्लोक में समावेश किया गया है। ऐसी स्थिति में पाँच श्लोकों को जाने बिना इस श्लोक विषयक अस्पष्टता बनी रहती है। यथार्थ में पाँचों इन्द्रियों के पाँचों विषयों को समभावपूर्वक सहने का उपदेश इन पाँच श्लोकों से अभिव्यक्त होता है। किन्तु श्लोकों के अधिकांश शब्दों का पुनरावर्तन होने के कारण तथा आदि, अन्त के ग्रहण से मध्यवर्ती का ग्रहण होता है—इस न्याय से रचनाकार ने कर्ण, शब्द और स्पर्श का ग्रहण कर पाँच श्लोकों के विषय को एक ही श्लोक में सन्निहित कर दिया।

चूर्णिकार तथा टीकाकार ने इस विषय की कुछ सूचनाएँ दी हैं, किन्तु उन्होंने पाँचों श्लोकों का अर्थ नहीं किया। निशीथ-चूर्णि तथा बृहत्कल्प-भाष्य में आद्यन्त के ग्रहण से मध्य का ग्रहण होता है—इसे समझाने के लिए इस श्लोक को उद्धृत कर पाँच श्लोक देते हुए लिखा है—

हे चोदग ! जहा दसवेयालिते आचारपणिहीए भणियं—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं.....
एत्थ सिलोगे आदिमंतग्गहणं कथं इहरहा उ एवं वत्तव्वं :

१. कण्ण सोक्खेहिं सद्देहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुणं कक्कसं सद्दं सोऊणं अहियासए॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. चक्खूकंतेहिं रूवेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुण कक्कसं रूवं, चक्खुणा अहियासए॥
३. घाणकंतेहिं गन्धेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुणं कक्कसं गंधं, घाणेणं अहियासए॥
४. जीइकंतेहिं रसेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुणं कक्कसं रसं, जीहाए अहियासए॥
५. सुहफासेहिं कंतेहिं, पेम्मं णाभिणिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएणं अहियासए॥

मज्झिला अट्ठ विसया गहिता भवंति। एवं इहविमहंतं सुतं मा भवं उत्ति आदि अन्तग्गहिता।[1]

(ख) **लिपिकर्ता द्वारा कृत संक्षेपीकरण**—दशवैकालिक सूत्र ५।१।३३, ३४ में श्लोक इस प्रकार है—

एवं उदओल्ले ससिणिद्धे, ससरक्खे मट्टिया ऊसे।
हरियाले हिंगुलए, मणोसिला अंजणे लोणे॥
गेरुय वण्णिय सेडिय, सोरट्ठिय पिट्ठ कुक्कुस कए य।
उक्कट्ठमसंसट्ठे संसट्ठे चेव बोधव्वे॥

टीकाकार के अनुसार ये दो श्लोक हैं। चूर्णि में इनके स्थान पर सत्रह श्लोक हैं। टीकाभिमत श्लोकों में 'एव' और 'बोधव्व' ये दो शब्द जो हैं वे इस बात के सूचक हैं कि ये संग्रह श्लोक हैं। जान पड़ता है कि पहले ये श्लोक भिन्न-भिन्न थे, फिर बाद में संक्षेपीकरण की दृष्टि से उनका थोड़े में संग्रहण कर लिया गया। यह कब और किसने किया? इसकी निश्चित जानकारी हमें नहीं है। इसके बारे में इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह संक्षेपीकरण चूर्णि और टीका के निर्माण का मध्यवर्ती है और लिपिकारों ने अपनी सुविधा के लिए ऐसा किया है।

संक्षेपीकरण से होने वाले विपर्यय के दो उदाहरण ये हैं—

(१) ज्ञातासूत्र के सोलहवें अध्ययन का १५३वां सूत्र प्रतियों में इस प्रकार हैं—

सकोरेंह सेयचामर हय-गय-रह-महया-भउचउभरेण जाव परिक्खिता

यहाँ 'जाव' को कितने गलत स्थान पर रखा है। यह पूरे पाठ के सन्दर्भ में ज्ञात हो जाता है। पूरा पाठ इस प्रकार है—

सकोरेंह-मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामरांहि बीइज्जमाणा हय-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडा महया भउ-भउगर-रहपकर-विंद-परिक्खित्ता.....।

(२) इसी सूत्र के आठवें अध्ययन का ४१वां सूत्र प्रतियों में इस प्रकार है—

'कणगामईए जाव मत्थयछिड्डाए।' यहाँ जाव शब्द अस्थान-प्रयुक्त है। इसके स्थान पर **"मत्थयछिड्डाए जाव पडिमाए'**—ऐसा होना चाहिए। पूरा पाठ इस प्रकार है—

कणगामईए मत्थयछिड्डाए पउमुप्पल-पिहाणाए पडिमाए.....

पाठ-परिवर्तन के मूल कारणों का मैंने जो निर्देश दिया है, उसके उदाहरण आगमों में हमें प्राप्त है। ऊपर मैंने लिपि-दोष और संक्षेपीकरण के कारण होने वाले पाठभेदों का नामोल्लेख किया है। इसी प्रकार दृष्टिदोषके कारण पाठों का छूट जाना या स्थानान्तरित हो जाने के उदाहरण भी मिलते हैं।

---

१. निशीथभाष्य चूर्णि, भाग ३, पृ० ४८३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग सूत्र के आठवें अध्ययन के प्रथम उद्देशक में एक पाठ इस प्रकार है—

'जे भिक्खू परक्कमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, सुसाणंति वा, सुन्नागारेंति वा, गिरि-गुहंति वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभारायतणंसि वा·····। (८. २१)

यहाँ 'कुंभारायतवणंसि' (कुम्भकार-आयतन) की बात सहज समझ में नहीं आती। वह शब्द श्मशान आदि चार शब्दों से अलग-थलग पड़ जाता है। सम्भव है इस शब्द के साथ-साथ अन्य आयतनों का भी उल्लेख रहा हो। यह तथ्य आचारांगचूर्णि की अर्थ-परम्परा से स्पष्ट लक्षित होता है। सम्भव है पहले 'जाव' शब्द द्वारा दूसरे सारे आयतनों का ग्रहण होता रहा हो और कभी किसी लिपिकर्ता से 'जाव' शब्द छूट गया और उस प्रति से लिखी गई सारी प्रतियों में केवल 'कुम्भकारायतणंसि' पाठ लिखा गया। इस प्रकार अनेक शब्द छूट गये। टीकाकारों ने इनका विमर्श नहीं किया। शेष शब्दों के अभाव में इस एक शब्द की यहाँ कोई अर्थ-संगति नहीं बैठती।

इसी प्रकार ज्ञातासूत्र के १.१४.४ में कनकरथ राजा के अमात्य तेतलीपुत्र के गुणों का वर्णन है। वहाँ प्रायः प्रतियों में 'तस्स णं कणगरहस्स तेयलिपुत्ते णामं अमच्चे सामदंड' इतना ही पाठ है। यहाँ जाव' आदि संग्राहक शब्दों का भी उल्लेख नहीं है। वास्तव में यह पाठ इतना होना चाहिए—**तस्स णं कणगरहस्स तेयलिपुत्ते णामं अमच्चे साम-दंड-भेय-उवप्प याणनीति-सुप्पउत्त-नय-विहण्णू, 'ईहा-वूह-मग्गण-गवेसण-अत्थसत्थ-मइविसारए, उप्पत्तियाए वेण-इयाए कम्मयाए परिणामियाए-चउव्विहाए बुद्धीए उववेए, कणगरहस्स रण्णो बहूसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य आपुच्छणिज्जे, मेढी पमाणं आहारे आलंबलणं चक्खू, मेढीभए पमाणभूए, आहारभूए, आलंबण-भए, चक्खुभूए, सव्वकज्जेसु सव्वभूमियासु लद्धपच्चए विइण्ण वियारे रज्जधुरंचिंतए यावि होत्था, कणगरहस्स रज्जो रज्जं च रट्ठं च कोसं च कोट्ठागारं च बलं च वाहणं च पुरं च अंतेउरं च सयमेव समुपेक्खमाणे-समुपेक्खमाणे विहरइ''।।**

इसी प्रकार ज्ञातासूत्र में अनेक स्थानों पर लम्बे-लम्बे गद्यांश छूट गए हैं—

(१) इस सूत्र के आठवें अध्ययन का २१७-१८वां सूत्र प्रतियों में इस प्रकार प्राप्त होता है—**'आभरणालंकार पभावईपडिच्छई·····'**। इसमें बहुत सारे शब्द छूट गए हैं। पूरा पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

२१७.·····**आभरणालंकार ओमुयह।**

२१८·····**तएणं पभावई हंसलक्खणेणं पडसाडएणं आभरणालंकार पडिच्छई।**

(२) इसी सूत्र के पहले अध्ययन का १६८वां सूत्र प्रतियों में इस प्रकार लिखित है—

तए णं तुमं मेहा ! अण्णया कयाइ गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूले

इसके स्थान पर पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

तए णं तुमं मेहा ! अण्णया कयाइ गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूले मासे पायवघंससमुट्ठिएणं सुक्कतणपत्तकवयर-मारुयसंजोगदीविएणं महाभयंकरेणं हुयवहेणं वणदवजालापलित्तेसु वणंतेसु·····।' (१.१.१६८)

कई स्थानों में अनावश्यक अंश भी प्रविष्ट हो गये हैं। इसी सूत्र के पहले अध्ययन का १२८वाँ सूत्र प्रतियों में इस प्रकार उपलब्ध है—

'मउडं पिणद्धेंति, दिव्वं सुमणदामं पिणद्धेंति, दद्दर-मलयसुगंधिए गंधे पिणद्धेंति। तए णं तं मेहं कुमारं गंथिमवे-ढिम-पूरिम-संघाइमेणं·····'

इसके स्थान पर पाठ ऐसा होना चाहिए—

'·····मउडं पिणद्धेंति, पिणद्धेत्ता गंथिम-वेढिम-पूरिम-संघाइमेणं·····।'

शब्दों के स्थानान्तरण के अनेक उदाहरण हमें उपलब्ध होते हैं। ज्ञातासूत्र के प्रथम अध्ययन के १८५वें सूत्र में—'तएणं से मेहे अणगारे समणओ भगवस्स महावीरस्स अंतिए तहारूवाणं थेराणं सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ·····' ऐसा पाठ प्रतियों में मिलता है। इसका अर्थ है—तब वह मेघ अनगार श्रमण भगवान् महावीर के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पास तथारूप स्थविरों के सामायिक आदि ग्यारह अंग पढ़ता है.....।' इसको पढ़ने से—महावीर के पास तथारूप स्थविरों के' इसका कोई अर्थ समझ में नहीं आता। यह शब्द-विपर्यय है। यह पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

'तए णं से मेहे अणगारे-समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए.....अहिज्जइ'।

इसका अर्थ होगा—तब वह मेघ अनगार श्रमण भगवान् महावीर के तथारूप स्थविरों के पास सामायिक आदि ग्यारह अंगों का अध्ययन करता है.....। यह स्पष्ट है। यहाँ **'अंतिए'** शब्द का स्थानान्तरण होने से अर्थ की दुरूहता हो गई।

व्याख्यान की सुविधा के कारण कुछ मुनि कई शब्दों के अर्थ प्रतियों में लिख देते थे। कालान्तर में अर्थ उन शब्दों के साथ जुड़कर मूलपाठ के रूप में गृहीत हो गये। विभिन्न आगमों में इस प्रकार के पाठ उपलब्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए ज्ञातासूत्र का एक पाठ उल्लिखित करता हूँ।

ज्ञातासूत्र के १.१६.१८ तथा उसके आस-पास के अनेक सूत्रों में एक पाठ प्रतियों में इस प्रकार प्राप्त होता है—

तित्तकडुयस्स बहुनेहावगाढस्स। यहाँ अर्थ ने पाठ में संक्रमित होकर उसकी बनावट को बदल डाला। तिक्त का अर्थ है—कटुक। कालान्तर में यह कडुवा (प्रा०) तित्त के साथ मूल पाठ बनकर **'तित्तकडुयस्स'** ऐसा बन गया। तथा **'तित्त'** के बाद वाला **'आलाउयस्स'** शब्द छूट गया। तथा **'बहुसंभारसंभियस्स नेहावगाढस्स'** के स्थान पर केवल **'बहुनेहावगाढस्स'** मात्र रह गया। जो **'बहु'** शब्द दूसरे शब्द के साथ था वह **'नेहावगाढस्स'** के साथ जुड़ गया। इस सारे सन्दर्भ में इन शब्दों का अर्थ ही बदल गया। यहाँ मूल पाठ इस प्रकार होना चाहिए—

'तित्तालाउयस्स बहुसंभारसंभियस्स नेहावगाढस्स।'

मैंने पहले वर्ण-विपर्यय से होने होने वाले पाठ-भेदों का उल्लेख किया है। उसका स्पष्ट उदाहरण ज्ञातासूत्र (१।१२।१६) से सहज बुद्धिगम्य हो जाता है। वह प्रसंग इस प्रकार है—

राजा जितशत्रु और अमात्य सुबुद्धि के बीच वार्तालाप का प्रसंग आया। राजा ने मन्त्री से कहा—'गन्दे पानी का वर्ण, गंध, रस और स्पर्श सभी अनमोज्ञ होते हैं, वे कभी मनोज्ञ नहीं बन सकते।'

मन्त्री बोला—राजन्! ऐसा नहीं है। मनोज्ञ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले पुद्गल अमनोज्ञ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले हो सकते हैं और अमनोज्ञ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले पुद्गल मनोज्ञ वर्ण, गंध, रस और स्पर्श वाले हो सकते हैं।

राजा ने इसका परीक्षण चाहा। अमात्य ने गन्दा पानी लिया। उसे पहले नौ कपड़ों से छाना फिर नौ घड़ों से उसे झारा आदि-आदि।

यहाँ प्रतियों में सर्वत्र वस्त्र के स्थान पर घड़े का उल्लेख है—

नवएसु घडएसु गालावेई.....। 'पड' के स्थान 'घड' हो जाने के कारण अर्थ पकड़ने में कठिनाई होती है। 'घ' और 'प' लिखने में बहुत थोड़ा अन्तर रहता है। अतः वर्ण-विपर्यय से भी पाठों में बहुत बड़ा अन्तर होता रहता है।

वर्ण-विपर्यय का एक हास्यास्पद उल्लेख भी मिलता है। एक स्थान में मूल शब्द था **'दहमाण'** इसका अर्थ होता है—जलता हुआ। इसके स्थान पर **'हदमाण'** हो गया। इसका अर्थ होता है—मलविसर्जन करता हुआ। एक अक्षर के इधर-उधर हो जाने से अर्थ में कितना बड़ा भेद पड़ गया? यह स्पष्ट है।

आगमों के मूलपाठगत त्रुटियों के ये कुछेक उदाहरण हैं। इस प्रकार की तथा इनसे भिन्न प्रकार की त्रुटियों के उदाहरण भी यत्र-तत्र उपलब्ध हैं। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में इसी प्रकार की सभी त्रुटियों के उदाहरण खोजे जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं। अभी-अभी हमने ज्ञातासूत्र के मूलपाठ का संशोधन और निर्धारण किया है। उसके कार्यकाल में इस प्रकार की त्रुटियों के पाठ सामने आये। हमने उनके पौर्वापर्य को पकड़कर पाठ की सप्रमाण संगति बैठाने का प्रयास किया है और उनका विमर्श पाद-टिप्पणों में दिया है। उन पाद-टिप्पणों के अवलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाठ-विपर्यय के कितने प्रकार हो जाते हैं।

मैं मानता हूँ कि आगम-सम्पादन में पाठ-निर्धारण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके बिना अर्थ, टिप्पण आदि विपर्यस्त हो जाते है।

पाठ निर्धारण में प्राचीन प्रतियाँ मात्र सहायक नहीं बनती। प्रत्येक शब्द का पौर्वापर्य और अर्थ जान लेना भी पाठ निर्धारण में आवश्यक होता है।

जो व्यक्ति पौवापर्य या अर्थ की ओर ध्यान न देकर केवल प्राचीन प्रतियों के आधार पर पाठ का निर्धारण करते हैं, वे एक नई समस्या पैदा कर देते हैं। ज्ञातासूत्र के एक उदाहरण से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है—

थावच्चापुत्त बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के शासन के श्रमण थे। शैलकपुर का राजा शैलक उनके पास गया। धर्म सुना और आगार धर्म स्वीकार करने की बात कही। श्रमण ने उसे व्रतों का निर्देश दिया।

ज्ञातासूत्र (१।५।४५) के इस प्रसंग का प्रतियों में इस प्रकार उल्लेख है—

"तए णं से सेलय राया थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं उवसंपज्जइ।"

इसका अर्थ है—

तब शैलक राजा ने थावच्चापुत्त अनगार के पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत—इस प्रकार बारह-विध गृहधर्म को स्वीकार किया।

यहाँ मीमांसनीय यह है कि बाईसवें तीर्थंकर के समय में बारह प्रकार के गृहस्थ-धर्म का प्रचार नहीं था। क्योंकि पहले और अन्तिम तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष बावीस तीर्थंकरों के शासन में 'चातुर्याम धर्म' का ही प्रचलन होता है। यहाँ जो पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों का उल्लेख है, वह महावीरकालीन परम्परा का द्योतक है।

पाठ की पूर्ति करने वालों ने इस स्थल पर इतना विचार नहीं किया। उन्होंने औपपातिक सूत्र के अनुसार यहाँ इस सन्दर्भ में पाठ-पूर्ति कर दी। वहाँ पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रतों के ग्रहण का निर्देश है। वह केवल महावीर के श्रावकों के लिए है, न कि मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के श्रावकों के लिए। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में अरिष्टनेमि के शासन की बात आ रही है, अतः यहाँ 'चाउज्जामियं गिहिधम्मं पडिवज्जइ' ऐसा पाठ होना चाहिए।

हमने यह भी देखा है कि कुछेक विद्वानों ने आगम पद्यों में छन्द की दृष्टि से कुछेक शब्दों का हेरफेर कर पद्यों को छन्ददृष्टि से शुद्ध करने का प्रयत्न किया है। वहाँ पर भी बहुत बड़ा भ्रम उत्पन्न हुआ है। प्राकृत पद्यों के अपने छन्द हैं, जो कि अनेक हैं। एक ही श्लोक के चारों चरणों के चार भिन्न-भिन्न छन्द प्राप्त होते हैं। किन्हीं श्लोकों में तीन और किन्हीं में दो छन्द भी प्राप्त होते हैं। ऐसी स्थिति में श्लोक के चारों चरणों में एक ही छन्द कर देना न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का परिवर्तन अनधिकार चेष्टा मात्र है।

पाठ-भेदों के कारणों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं दो आगमों ज्ञाता और आचारांग के कुछेक उदाहरण सप्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ—

१. ज्ञाताधर्मकथा

८।५६८ विवराणि	के स्थान पर	विरहाणि
८।१६५ किच्छोवगयपाणं	,,	किछपाणोवगयं
२।१७ विणित्तए	,,	विहरित्तए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८।१५४ एवं वुत्ता समाणी	के स्थान पर	एवं व
८।१३५ सक्कं	,,	सक्का
१६।७८ गंधट्टएणं	,,	गंधोद्धुएणं, गंधुदएणं, गंधदूएणं
५।४० अणगारसहस्सेण सद्धिं	,,	सहस्सेणं अणगाराणं, सहस्सेणं अणगारेणं ।
८।७४ निव्वोलेमि	,,	निच्छोल्लेमि
७।७५ तुमं णं जा	,,	तुमं णं जाव
८।७२ भुमरासिरं	,,	भुभलसिरं, संभलसिरं बुंभलं, कुन्तलं ।
८।७२ कोट्टकिरियाण	,,	कोटिकिरियाण
१६७ संसारियासु	,,	संचारियासु
१८।५१ परब्भाहते	,,	परिब्भमंते, परब्भमंते, परब्भए ।
८।३५ जम्मणुस्सवं	,,	जम्मणं सव्वं
८।१८ सो उ	,,	जीवो, एसो ।
१३।३१ वेज्जा	,,	विज्जा
२।७१ गच्छामि	,,	इच्छामि
१३।१७ मत्तछप्पय	,,	महच्छप्पय
१२।१३ ईसर	,,	राईसर

२. आचारांग

६।७२ आयरिय-पदेसिए	,,	आरिय-देसिए
६।७३ दइया	,,	चियत्ता
६।९६ सिलोए	,,	लोए
६।९९ वीरो	,,	धीरो
८।६१ णिस्सेयसं	,,	णिस्सेसं, निस्सेसियं
८।१८ आसीणे णेलिसं	,,	उदासीणो अणेलिसो
१।३५ विजहत्तु विसोत्तियं	,,	तिन्नोहसि विसोत्तियं, विजहित्तु पुव्व संजोगं
२।१३४ कासं कसे	,,	कामं कामे
२।१५७ दिट्ठ-पहे	,,	दिट्ठ-भवे
२।८ वीरे	,,	धीरे
३।३७ दिट्ठ-भए	,,	दिट्ठ-पहे
३।६९ सहिए दुक्खमत्ताए	,,	सहिते धम्ममादाय
३।७७ उवाही	,,	उवही
४।२५ पावादुया	,,	समणा माहणा
५।६९ पलीबाहरे	,,	पलिबहिरे, पलिबाहरे, बलिबादिरे ।

प्रस्तुत विवरण के सन्दर्भ में आगम-पाठों की वस्तुस्थिति का सही-सही ज्ञान हो जाता है। सत्य का शोधक अत्यन्त नम्र होता है। वह शोध करता हुआ नए-नए सत्यों का आत्मसात् करता जाता है। वह एक ही बिन्दु पर खड़ा नहीं रहता। एक-एक बिन्दु को पार कर वह सारे समुद्र को तैर जाता है। यदि वह एक बिन्दु पर पहुंचकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने आपको कृतकार्य मान लेता है तो उसकी सत्य-शोध की वृत्ति वहीं ठप्प हो जाती है और तब उसमें नए-नए अभिनिवेश घर कर जाते हैं। अब उसको सत्य-प्राप्त नहीं होता, सत्य का आभास मात्र उसको हस्तगत होता है।

आज सद्यस्क आवश्यकता है कि शोध-विद्वान् आगम पाठों के निर्धारण में पूर्ण श्रम करें और पौर्वापर्य, अर्थ-संगति, परम्परा और अन्यान्य आगमों में उसका उल्लेख..... इन सारी बातों पर ध्यान दें।

आगमों के अनुवाद आदि की आवश्यकता है किन्तु इससे पूर्व पाठ-निर्धारण का कार्य अत्यन्त अपेक्षित है। पाश्चात्य विद्वानों का यह अनुरोध है कि यह कार्य पहले हो और अन्यान्य कार्य बाद में।

वि० सं० २०१२ में औरंगाबाद में आचार्यश्री ने आगम सम्पादन और विवेचन की घोषणा की। उसी वर्ष कार्य प्रारम्भ हुआ। कार्य धीरे-धीरे चलता रहा। अन्यान्य प्रवृत्तियों के साथ यह कार्य आगे बढ़ता गया और कुछ ही वर्षों में यह मुख्य कार्य बन गया। अनुभव संचित हुए। कुछ आगम ग्रन्थ प्रकाश में आये। विद्वानों ने उनको सराहा। कार्य गतिशील रहा। भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी का प्रसंग आया तब ग्यारह अंगों का मूलपाठ अंगसुत्ताणि भाग १, २, ३ में प्रकाशित हुआ। आगमों का ऐसा विशद और सटिप्पण मूल पाठ को पाकर जैन समाज कृतकृत्य हुआ। हमारे पाठ-सम्पादन की एक मंजिल पूरी हुई। वर्तमान में प्रायः बत्तीस आगमों का पाठ सम्पादित हो चुका है। पाठ-सम्पादन की वैज्ञानिक पद्धति ने इस वाचना को देवर्द्धिगणी की वाचना से शृंखलित कर डाला—ऐसा कहा जा सकता है। आचार्यश्री का दृढ़ अध्यवसाय, वृद्धिगत उत्साह, और अदम्य पुरुषार्थ तथा बहुश्रुत युवाचार्य महाप्रज्ञजी (मुनिश्री नथमलजी) की सूक्ष्म-मनीषा, गहरे में अवगाहन करने की क्षमता और पारगामी दृष्टि तथा साधु-साध्वियों के कार्यनिष्ठभाव ने आगम के अपार-पारावार के अवगाहन को सुगम ही नहीं बनाया अपितु वह एक पथ-प्रदीप बना और आज भी उस दिशा में गतिशील संधित्सुओं का पथ प्रकाशित करने में सक्षम है। तेरापंथ धर्म-संघ ही नहीं, सारा जैन समाज आचार्यश्री के इस भगीरथ प्रयत्न के प्रति और उनके साधु-संघ की कर्त्तव्यनिष्ठा के प्रति नत है।

□□□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org